THE TIMES OF INDIA

Date: 13-10-18

Head In Sand

Rejecting HCI rankings won't help India

TOI Editorials

With the World Bank ranking India at 115th out of 157 countries on the Human Capital Index (HCI), New Delhi has decided to ignore the finding altogether. HCI seeks to measure the amount of human capital that a child born today can expect to attain by the age of 18. According to its parameters a child born in India today will only be 44% as productive as she could have been if she enjoyed complete education and full health. In other words, there are grave deficiencies in our education and healthcare systems that are preventing our children from reaching their full potential.

However, New Delhi has cited so-called methodological weaknesses to reject the index. This excuse sounds similar to government's complaint against the Programme for International Student Assessment (PISA) after Indian students fared poorly in the 2009 version of the prestigious test. Back then, government had blamed 'out of context' questions in the test and boycotted PISA. Both UPA and NDA governments appear to display similar reflexes when it comes to global benchmarks and international comparisons.

But if one poses the question what holds India back – at the most fundamental level – from realising its potential, the best answer is its failure to develop its human capital. As the work of Paul Romer – who won this year's economics Nobel – shows, it is ideas and intellectual capital (which India is potentially rich in but lazy about developing) that are more effective in driving sustainable long term growth than physical capital (which India is short of). And the best way for India to build its human capital and become a competitive economy is by continuously benchmarking itself against international standards and outcomes, rather than citing Indian exceptionalism and embracing the ostrich-like attitude of official babudom.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 13-10-18

New Political Culture Key, to Change PSEs

ET Editorials

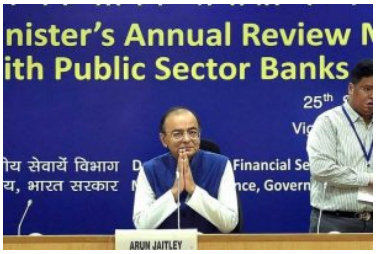

Finance minister Arun Jaitley has done well to urge the Comptroller and Auditor General (CAG) to do some radical thinking while auditing the books of state-owned companies. His larger point is to create an enabling legal regime to make public sector enterprises (PSEs) nimble-footed, so that they can take swift decisions and compete with their peers in the private sector.

The playing field is unequal now, given that PSUs face speedbreakers such as audit by the CAG and complaints to the Vigilance Commission, hostage to operational rigidities. The result is to rob PSEs of functional and operational autonomy, the ability to take risks and forge ahead. This must change. It calls for reforms in many fronts. Convoluted procedures that hobble decision-making must go. The statutory auditor must strengthen expertise in economics, law and accounting. The 2017 Economic Survey deplored "abundant caution in bureaucratic decision-making", a phrase notable for abundant understatement. Senior public sector managers prefer to play it safe rather than invite the attention of CVC, CBI, CAG and the courts.

These agencies as well as the government must renounce the culture that views every loss-making decision with suspicion. PSE managers must be evaluated on the basis of their corporate achievements, rather than on having avoided every risk to produce mediocre results. At present, State ownership goes hand in hand with political and bureaucratic interference even in operational matters. Not just the practice of the parent ministry calling the shots in the appointment of board members and other senior managers, even the idea of a parent ministry must go. A holding company for all PSEs is but one thought. A change in political culture alone can make a difference.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 13-10-18

विकास की कीमत

टी. एन. नाइनन

जब भी पृथ्वी के वातावरण की बिगड़ती स्थिति को लेकर कोई बात सामने आती है तो चेतावनी दी जाती है कि इंसानी हरकतों की वजह से पृथ्वी पर बोझ पड़ रहा है। इसके गंभीर परिणामों के जिक्र के साथ ही यह चर्चा उठती है कि कैसे हमें अपने रहन-सहन में बदलाव लाना होगा। नए लक्ष्य भी तय किए जाते हैं। सन 1972 में क्लब ऑफ रोम रिपोर्ट से लेकर सन 1992 का रियो सम्मेलन, सन 1997 में क्योटो समझौता और सन 2015 में पेरिस समझौते तक तमाम चेतावनियां जारी की गईं और लक्ष्य भी बार-बार बदले गए। परंतु यह सबकुछ बेमानी रहा। इंसानी रहन सहन पहले जैसा ही बना रहा। सन 1990 आते-आते पहली बार ऐसा हुआ कि मनुष्यों की गतिविधियों का बोझ पृथ्वी की वहन क्षमता से बाहर हो गया। तब से अब तक हालत बिगड़ती गई है। हमें अब निरंतर अतिरंजित और अप्रत्याशित मौसम का सामना करना पड़ रहा है। अब वैज्ञानिक पहले से कहीं अधिक गंभीर परिणामों की चेतावनी दे रहे हैं। इनसे निपटने के लिए आपातकालीन कदम उठाने के लिए एक दशक से भी कम की समय सीमा तय की जा रही है। जैसे-जैसे मनुष्य का

विकास हुआ, पर्यावरण का विनाश होने लगा। जैरेड डायमंड ने सन 1991 में ही अपनी पुस्तक द राइज ऐंड फॉल ऑफ द थर्ड चिंपैंजी में लिख दिया था कि विनाश की प्रलयकारी शक्ति उस स्थिति में पहुंच चुकी है जहां उसे रोकना संभव नहीं।

चूंकि डीएनए आसानी से नहीं बदलता है इसलिए हमें यह मान लेना चाहिए कि भविष्य में भी अतीत की कहानी दोहराई जाएगी। यानी बातें तो बड़ी-बड़ी होंगी लेकिन कोई कदम नहीं उठाया जाएगा। एक बार फिर धरती के तापमान में होने वाली वृद्घि और उससे जुड़ी त्रासदी का जिक्र होगा। चर्चा होगी कि कैसे इसके चलते खाद्य शृंखला में शामिल लाखों जीव-प्रजातियां अप्रत्याशित रूप से नष्ट हो जाएंगी। परंतु वैश्विक त्रासदी से निपटने की तैयारी किस प्रकार की जाए? शायद यह पता लगाकर कि कौन से क्षेत्र पहले प्रभावित होंगे और बाकी क्षेत्रों की तुलना में जल्दी प्रभावित होंगे? एक हालिया रिपोर्ट में कहा गया है कि न्यूजीलैंड में अमीर लोग दूसरा या तीसरा मकान खरीद रहे हैं। उन्हें लग रहा है कि उन्हें शायद दूरदराज में छिपने की जगह मिल जाएगी। परंतु न्यूजीलैंड बहुत छोटा सा देश है जो बहुत अधिक प्रवासी भी नहीं चाहता। गरीब प्रवासियों को रोकने का सिलसिला हर तरफ चल रहा है। इनमें से अधिकांश पर्यावरण शरणार्थी हैं। भारत भी इस सिलसिले से बाहर नहीं है।

स्पेसएक्स के सीईओ एलन मस्क बहुग्रहीय जीवन के बारे में सोच रहे हैं और वह मंगल जैसे ग्रहों पर कॉलोनी बसाना चाहते हैं ताकि तीसरे विश्व युद्घ की स्थिति में बचाव संभव हो। हालांकि कुछ लोग कहेंगे कि पर्यावरण के मोर्चे पर पहले ही तीसरे विश्व युद्घ जैसे हालात बन चुके हैं। विपरीत परिस्थितियों में अंतरग्रहीय यात्रा और जीवन कम से कम मनुष्यों के लिए तो उपयुक्त नहीं हो सकते। ऐसे पलायनवादी उपायों से परे हमें कम से कम यह समझना चाहिए कि आखिर क्यों हम जरूरी कदम नहीं उठा सके। इससे हमें समस्या को ठीक से समझने में मदद मिलेगी। पहली बात, पर्यावरण सम्मेलन व्यापार वार्ताओं की तर्ज पर तैयार किए गए। यानी एक देश की प्रतिबद्घता दूसरे देश की पेशकश से जुड़ी रहती है। यह व्यापार के मामले में लागू होता है क्योंकि मुक्त व्यापार में सबका लाभ है। परंतु पर्यावरण की बात करें तो अमीर देश गरीबों की हालत में सुधार के लिए अपनी जीवनशैली बदलने को तैयार नहीं हुए।

दूसरा, खतरे की चेतावनी सन 2050 या सन 2100 को लेकर दी जा रही थीं। ये तारीखें निर्णय लेने वालों के जीवन की परिधि से बाहर थीं। अधिकांश लोगों की चिंताएं कहीं अधिक तात्कालिक थीं। तीसरा, उठाए गए कदम और हासिल नतीजों में संबंध स्थापित नहीं होता। उदाहरण के लिए पंजाब में अपनी फसल के अवशेष जला रहा किसान दिल्ली की जहरीली हवा के बारे में कुछ नहीं सोचता। स्पष्ट है कि प्रदूषण फैलाने वाला कीमत नहीं चुकाता। चौथा, किफायती इंजन जैसे तकनीकी उपाय कोई हल नहीं हैं क्योंकि ये अंतत: खपत को बढ़ावा देते है।

क्या आर्थिक विचार में बदलाव से हल निकल सकता है? नोबेल समिति ने विलियम नॉर्डहास को सम्मानित करके इस दिशा में प्रयास किया है। दूसरी ओर जीडी अग्रवाल गंगा के लिए अनशन करते हुए अपने प्राण गंवा बैठे। हम प्राकृतिक संपदा का उपयोग तभी तक कर सकते हैं जब तक वह है। एक दिन अचानक वह समाप्त हो जाएगी। गलत मत समझिए, हम उसी दिशा में बढ़ रहे हैं।

नईदुनिया

Date: 13-10-18

नदियों की सुधि

यह अच्छी बात है कि सरकार ने थोड़ी देर से सही, विभिन्न नदियों के लिए प्राधिकरण बनाए जाने से संबंधित विधेयक का मसौदा तैयार कर लिया।

संपादकीय

करीब एक दर्जन नदियों के लिए नदी घाटी प्राधिकरण बनाने की तैयार नदी जल प्रबंधन के प्रति सरकार की गंभीरता को रेखांकित करती है। यह अच्छी बात है कि सरकार ने थोड़ी देर से सही, विभिन्न नदियों के लिए प्राधिकरण बनाए जाने से संबंधित विधेयक का मसौदा तैयार कर लिया। यदि सब कुछ सही रहा तो संसद के शीतकालीन सत्र में रिवर बेसिन मैनेजमेंट विधेयक पेश हो सकता है, लेकिन कोशिश इसके लिए होनी चाहिए कि इसी सत्र में यह विधेयक पारित भी हो जाए। इसी तरह सरकार को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जरूरी केवल यह नहीं है कि प्रमुख नदियों के लिए प्राधिकरण बनें, बल्कि यह है कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायक भी साबित हों।

नदी घाटी प्राधिकरण इस उद्देश्य से गठित किए जाने हैं कि एक तो नदियों के जल का बेहतर प्रबंधन हो और दूसरे उनके पानी के बंटवारे से संबंधित विवादों को निपटाने में आसानी हो। अपने देश में नदियों के जल बंटवारे से जुड़े विवाद किसी से छिपे नहीं। कई बार वे राज्यों के बीच विवाद का कारण तो बनते ही हैं, वैमनस्य को बढ़ाने का भी काम करते हैं। यह भी किसी से छिपा नहीं कि नदी जल बंटवारे संबंधी विवाद वर्षों तक अनसुलझे बने रहते हैं।

आम तौर पर ऐसा इसीलिए होता है, क्योंकि राज्य सरकारें नदियों को अपनी निजी संपत्ति की तरह समझने लगती हैं। स्थितियां तब और बिगड़ जाती हैं जब नदी जल बंटवारे संबंधी विवाद सस्ती राजनीति का जरिया बन जाते हैं। इस राजनीति के चलते मिलजुलकर काम करने के बजाय लोगों को गुमराह करने और यहां तक कि भड़काने का भी काम होता है। फिलहाल यह कहना कठिन है कि नदी घाटी प्राधिकरण इस तरह की राजनीति पर किस तरह विराम लगाने में सहायक बनेंगे, लेकिन इतना तो है ही कि केंद्रीय सत्ता हाथ पर हाथ रखकर भी नहीं बैठे रह सकती थी।

यह अच्छा हुआ कि सरकार ने नदियों के जल प्रबंधन और उनके पानी के बंटवारे को लेकर नई व्यवस्था बनाने की दिशा में कदम बढ़ाए, लेकिन उसे यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि गंगा, कावेरी, कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा, ब्रह्मपुत्र-बराक समेत अन्य अनेक नदियों के लिए बनने वाले नदी घाटी प्राधिकरण वास्तव में कारगर साबित हों। इस क्रम में सरकार को यह खास तौर पर देखना होगा कि इन प्राधिकरणों का हश्र वैसा न होने पाए जैसा विभिन्न नदियों को साफ-स्वच्छ बनाने वाली योजनाओं का हुआ। बेहतर होगा कि नदी घाटी प्राधिकरण के गठन की ओर बढ़ने के साथ ही सरकार इसका आकलन करे कि नदियों को साफ करने की उसकी योजनाएं कितने पानी में हैं?

अगर नदियां प्रदूषण से मुक्त ही नहीं हो सकेंगी तो फिर नदी घाटी प्राधिकरण के गठन की कवायद सवालों के घेरे में ही होगी। यह ठीक नहीं कि तमाम वादों के बाद भी सरकार गंगा नदीं को प्रदूषण मुक्त करने के अपने वादे को पूरा करने

में सफल नहीं हो सकी। उसे यह आभास होना ही चाहिए कि नदियों को दशा सुधारने के लिए नए सिरे वादे करने अथवा कोई नई व्यवस्था बनाने के **साथ ही एक उदाहरण पेश करने की जरूरत है।**

दैनिक जागरण

Date: 13-10-18

संसद दागी नेताओं पर लगाम लगाए

ए. सूर्यप्रकाश (लेखक प्रसार भारती के चेयरमैन एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

राजनीति के अपराधीकरण को लेकर सुप्रीम कोर्ट के हालिया निर्णय के अलग-अलग निहितार्थ **हैं।** इससे मतदान के समय मतदाता के समक्ष उम्मीदवार की और **ज्यादा** जानकारियां होंगी, लेकिन दागी उम्मीदवारों को चुनाव लडऩे से प्रतिबंधित करने की उमीद पूरी होनी अभी शेष है। ऐसा इसलिए, क्योंकि शीर्ष अदालत ने यह तो माना कि विधायी संस्थाओं में आपराधिक तत्वों का आना वैसा ही है जैसे कोई दीमक लोकतंत्र को खोखला करता है, लेकिन उन्हें बाहर करने के मसले पर कहा कि वह इसके लिए कानून नहीं बना सकती। कोर्ट के अनुसार, यह काम संसद के दायरे में आता है, मगर संसद ने अभी तक इस सड़ांध की सफाई को लेकर दृढ़ता नहीं दिखाई है। बीते कई वर्षों से शीर्ष अदालत ने काफी सक्रियता दिखाते हुए यह सुनिश्चित किया है कि चुनाव लडऩे वाले प्रत्याशी अपनी ज्यादा से ज्यादा **जानकारियां** सार्वजनिक करें। यह अदालती निर्देश का ही असर है कि चुनाव लडऩे वाले प्रत्याशियों को अपनी शैक्षिक **योग्यता**, संपत्ति एवं देनदारी और आपराधिक रिकॉर्ड का ब्योरा हलफनामे में देना पड़ता है। हालिया फैसले में अदालत ने एक कदम आगे बढ़ाते हुए निर्देश दिया कि प्रत्याशियों को स्थानीय मीडिया के जरिये जनता को अपने आपराधिक रिकॉर्ड के बारे जानकारी देनी होगी। इसके साथ ही आपराधिक अतीत वाले **लोगों** को टिकट देने वाले राजनीतिक दलों को भी उनका रिकॉर्ड अपनी वेबसाइट पर देना चाहिए। नामांकन भरने के बाद प्रत्याशी और राजनीतिक दल को बहुप्रसारित **अखबारों** में उत प्रत्याशी के आपराधिक अतीत का पूरा ब्योरा देने के साथ ही स्थानीय इलेट्रॉनिक मीडिया में कम से कम तीन बार इसके बारे में बताना होगा। यह इसलिए जरूरी किया गया है ताकि आम नागरिक उनके बारे में भलीभांति जागरूक हो सकें जिन्हें वे अपना जनप्रतिनिधि बनाना चाहते हैं।

वक्त आ गया है कि संसद कानून बनाकर यह सुनिश्चित करे कि गंभीर आपराधिक मामलों **में** फंसे लोग मुख्यधारा की राजनीति से न जुड़ सकें। इस मामले में अदालत ने विधि आयोग के सुझाव को भी याद **दिलाया** कि अदालत में दोषी सिद्ध हुए व्यति के लिए चुनाव लड़ने पर **प्रतिबंध** लगा देना चाहिए। अदालत ने कहा कि यह राजनीति के अपराधीकरण को लेकर समाज की चिंता को दर्शाता है, लेकिन विधायिका ने इस पर कोई प्रभावी कानून **ही** नहीं बनाया है। अदालत चाहती है कि संसद इसके लिए इतना सशत कानून बनाए जिसमें सभी दलों के लिए यह अनिवार्य हो कि वे गंभीर अपराध के दोषियों को अपनी प्राथमिक **सदस्यता** से निलंबित करें और उन्हें चुनाव लड़ने के लिए टिकट न दें। अदालत का मानना है कि इससे राजनीति को अपराध से मुति दिलाने में मदद मिलेगी। इस फैसले ने झारखंड मुति मोर्चा से जुड़े मामले में दिए सुप्रीम कोर्ट के एक और **निर्णय** की याद दिला दी है। यह मामला 1993 में पीवी नरसिहा राव की सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव में मदद की एवज में सांसदों को रिश्वत देने से जुड़ा था। राव **अल्पमत** सरकार चला रहे थे

और लोकसभा में संख्याबल के मोर्चे पर पिछड़ रहे थे। उन पर आरोप था कि अपनी सरकार बचाने के लिए उन्होंने लोकसभा में दस सांसदों को समर्थन के बदले घूस दी। इनमें से चार सांसद झारखंड मुति मोर्चा के थे जिन्हें समर्थन के बदले कुल 2.8 करोड़ रुपये मिले। वोट के बदले नोट के दम पर 28 जुलाई, 1993 को राव सरकार ने विश्वासमत हासिल किया।

इसके पहले का घटनाक्रम बेहद सनसनीखेज रहा। रिश्वत देने के लिए नोटों से भरे ब्रीफकेस लेकर एकवरिष्ठ नेता कर्नाटक से दिल्ली पहुंचे। दिल्ली हवाई अड्डे पर ब्रीफकेस खुल गया और नोट बाहर आ गिरे, जिन्हें देखकर लोग हतप्रभ रह गए। सदन में मतदान के बादका घटनाक्रम हास्यास्पद था। सांसद रिश्वत में मिले नोटों को बोरे में भरकर एक राष्ट्रीयकृत बैंक की शाखा में पहुंचे कि इन्हें उनके खाते में जमा कर दिया जाए। अपने वोट बेचने वाले इन सांसदों में से किसी के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई।

ये भ्रष्ट सांसद इसलिए बच गए, क्योंकि सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि अनुच्छेद 105 के तहत संविधान इन सांसदों पर मुकदमा चलाने की इजाजत नहीं देता। अनुच्छेद 105 (1) के अनुसार संसद में सांसदों को अभिव्यति की स्वतंत्रता है। वहीं अनुच्छेद 105 (2) के अनुसार संसदीय कार्यवाही में अपने किसी बयान या मतदान को लेकर किसी सांसद को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस प्रावधान ने सांसदों को ऐसा रक्षा कवच दे रखा है कि वे संसद में चाहे जो कहें या करें, उन पर कोई कानूनी कार्रवाई नहीं हो सकती। इस मामले में जिन सांसदों ने रिश्वत ली उन पर भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के तहत मामला चला, मगर सांसदों नेअनुच्छेद 105 (2) के आधार पर दलील दी कि संसद में उनकी गतिविधि पर उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हो सकती। सुप्रीम कोर्ट की पांच सदस्यीय पीठ ने बहुमत से फैसला दिया कि अनुच्छेद 105(2) के तहत इन सांसदों को रक्षा आवरण मिला हुआ है। सुप्रीम कोर्ट के संवैधानिक रुख का औचित्य समझ आता है, लेकिन इसके तमाम दुष्प्रभाव देखने को मिले जिनमें सबसे बड़ा यही कि विधायी संस्थाओं में दाखिल होने वाले प्रतिनिधियों की गुणवत्ता में भारी कमी आई है। हालांकि शीर्ष अदालत ने यह कहा है कि वह आपराधिक रिकॉर्ड वालों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध नहीं लगा सकती,लेकिन इस मामले में अभी तक शिथिल रवैया अपनाने वाली संसद से किसी निर्णायक कदम की उमीद करना बेमानी ही होगा। चूंकि पार्टियां टिकट देते समय उम्मीदवार की 'जीतने की क्षमता' को ही सबसे ज्यादा तवज्जो देती हैं और बीते कुछ वर्षों से आपराधिक अतीत वाले जनप्रतिनिधियों की संख्या लगातार बढ़ रही है इसलिए या संसद सुप्रीम कोर्ट की चिंता और बेचैनी पर गौर करके अपराधियों को राजनीति से दूर रखने के लिए कोई कानून बनाएगी? देश की सबसे बड़ी विधायी संस्था को इस मामले में खुद पर जताए जा रहे संदेहों को निश्चित रूप से दूर करना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 12-10-18

भेदभाव का पाठ

संपादकीय

राजधानी दिल्ली के एक स्कूल में बच्चों को धर्म के आधार अलग-अलग बिठाने की जो हरकत सामने आई है, आज के दौर में एकबारगी उस पर विश्वास करना मुश्किल हो सकता है। पर हैरानी की बात है कि यह कदम खुद उस स्कूल के प्रभारी शिक्षक ने इस दलील के साथ उठाया था कि इससे बच्चों के बीच 'शांति और अनुशासन' का माहौल बनाए रखा जा सकेगा। इससे ज्यादा अफसोसनाक बात और क्या हो सकती है कि एक शिक्षक ऐसा तर्क पेश करता है। जबकि दुनिया भर में धर्म और नस्ल के आधार पर समाज में पैदा होने वाले तकलीफदेह विभाजन को खत्म करने की उम्मीद बच्चों से ही की जाती है, क्योंकि कोई भी दायरा बच्चों की मासूमियत को नहीं बांध पाता है। हालांकि इसी साल जुलाई में स्कूल का प्रभारी बनाए जाने के बाद जब इस शिक्षक ने कई कक्षाओं में हिंदू और मुसलिम बच्चों को अलग-अलग वर्गों में बैठने की व्यवस्था लागू की, तभी वहां के दूसरे कुछ शिक्षकों ने आपत्ति जताई थी। मगर सवाल यह भी है कि पिछले करीब दो-ढाई महीने से स्कूल में यह व्यवस्था चल रही थी तो किसी अधिकारी को इस बारे में पता क्यों नहीं चला? स्कूलों में समय-समय पर निरीक्षण के लिए जाने वाले अधिकारियों के संज्ञान में यह बात कैसे और क्यों नहीं आई?

यह समझना मुश्किल है कि जिस शिक्षक को इतने सारे बच्चों को शिक्षित करने और बाकायदा एक स्कूल को संचालित करने लायक समझा गया, उसकी समझदारी की सीमा और पूर्वाग्रहों का आलम यह है! एक व्यक्ति के पूर्वाग्रहों को उसका निजी मामला मान लिया जा सकता है। मगर इस शिक्षक ने अपनी मानसिकता को स्कूल के मासूम बच्चों पर थोपने की कोशिश की। अंदाजा लगाया जा सकता है कि अब तक शिक्षक के रूप में इस व्यक्ति ने बच्चों को किस तरह की शिक्षा दी होगी। भारत के संविधान की मूल भावना से लेकर लोकतांत्रिक परंपराओं और शिक्षक-प्रशिक्षण की तमाम नियमावलियां एक शिक्षक की यह जिम्मेदारी तय करती हैं कि वह बच्चों को स्कूली पाठ्यक्रम पूरा कराने के साथ-साथ उनके बीच समानता, सौहार्द और मेलजोल के भाव पैदा करे। पर इन सबको ताक पर रख कर अगर किसी शिक्षक ने स्कूल के बच्चों को इस तरह विभाजित करने की कोशिश की तो इसे महज संयोग मान कर टालना शायद ठीक नहीं होगा।

यह किसी से छिपा नहीं है कि पिछले कुछ सालों से देश में राजनीतिक गतिविधियों और नेताओं की बयानबाजियों ने एक ऐसा माहौल बना दिया है कि लोग किसी भी सामाजिक-राजनीतिक मसले को मानवीय लिहाज से देखने के बजाय उस पर भिन्न धर्मों या समुदायों के नजरिए से बात करने लगते हैं। मगर इन सबके बीच इंसानियत के मूल्यों में विश्वास रखने वाले लोग भविष्य के बेहतर और सौहार्दपूर्ण समाज के लिए बच्चों को ही उम्मीद की नजर देखते रहे हैं। अब अगर बच्चों के कोमल मन-मस्तिष्क में ही धर्म या जाति के नाम पर अलगाव का भाव पैदा कर दिया जाएगा तो आगे चल कर वे देश के कैसे नागरिक बनेंगे? उनके बीच पैदा हुई आपसी दूरी भविष्य में कोई राजनीतिक शक्ल नहीं ले लेगी, इसकी गारंटी कौन दे सकता है? संबंधित स्कूल प्रभारी को निलंबित कर दिया गया है। जरूरत इस बात की है कि इस मसले पर तर्कसंगत कार्रवाई हो, ताकि ऐसा दूसरा उदाहरण कभी सामने न आए। यही देश और इंसानियत के हित में होगा।

Date: 12-10-18

मुकदमे की मुनादी

संपादकीय

आपराधिक पृष्ठभूमि के राजनेताओं पर नकेल कसने के मकसद से निर्वाचन आयोग ने हलफनामे का नया प्रारूप जारी कर दिया है। अब उम्मीदवारों को न सिर्फ यह बताना अनिवार्य होगा कि उनके विरुद्ध कितने आपराधिक मामले विभिन्न अदालतों में लंबित हैं, बल्कि मतदान से अड़तालीस घंटे पहले अखबारों और टीवी चैनलों पर कम से कम तीन बार इससे संबंधित विज्ञापन भी प्रकाशित-प्रसारित कराने होंगे। इसके अलावा संबंधित राजनीतिक दलों को भी हलफनामा देना होगा कि उनके उम्मीदवार ने अपने खिलाफ दायर आपराधिक मामलों की जानकारी लोगों में प्रसारित कर दी है। निर्वाचन आयोग ने यह कदम सर्वोच्च न्यायालय के उस आदेश के आधार पर उठाया है, जिसमें उसने कहा था कि आयोग आपराधिक पृष्ठभूमि वाले लोगों को चुनाव प्रक्रिया से दूर रखे। उधर सर्वोच्च न्यायालय ने सभी राज्य सरकारों और केंद्र शासित प्रदेशों को आपराधिक पृष्ठभूमि वाले जनप्रतिनिधियों के बारे में जानकारी उपलब्ध कराने के लिए दो हफ्ते का समय दिया है। हालांकि यह निर्देश पहले ही दिया गया था, पर सोलह को छोड़ कर अभी तक बाकी राज्य इस पर चुप्पी साधे हुए हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी निर्देश दिया है कि वे जन प्रतिनिधियों के खिलाफ चल रहे आपराधिक मामलों की जानकारी उपलब्ध कराएं।

सर्वोच्च न्यायालय और निर्वाचन आयोग के इस सख्त कदम से राजनीति में अपराधीकरण पर कुछ लगाम लगने की उम्मीद जगी है। हालांकि जन प्रतिनिधित्व कानून 2002 में ही यह प्रावधान कर दिया गया था कि हर प्रत्याशी को अपने खिलाफ दायर आपराधिक मुकदमों का विवरण देते हुए एक हलफनामा देना होगा। मगर ज्यादातर राजनेता या तो अपने खिलाफ दायर मुकदमों का विवरण देने से बचते या गोलमोल जानकारी देते देखे जाते हैं। अब अपने खिलाफ आपराधिक मामलों की जानकारी उन्हें विज्ञापन के रूप में कम से कम तीन बार प्रकाशित-प्रसारित करानी पड़ेगी। इसके पीछे मकसद यह है कि इससे लोगों को उम्मीदवारों के बारे में जानकारी मिले और वे मतदान करते समय आपराधिक छवि के लोगों को चुनने से बच सकें। क्योंकि बहुत सारे सामान्य मतदाताओं को उम्मीदवारों की पृष्ठभूमि के बारे में सही जानकारी नहीं मिल पाती। वे प्राय: पार्टी की छवि से प्रभावित होकर उसके उम्मीदवार को वोट दे देते हैं। इसीलिए पार्टियों को भी इसमें शामिल किया गया है कि वे सुनिश्चित करें कि उम्मीदवार ने अपने बारे में जानकारी लोगों के बीच प्रसारित कर दी है।

पर अभी तक के अनुभवों को देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि निर्वाचन आयोग का यह कदम कितना प्रभावी साबित होगा। चुनाव खर्च को लेकर स्पष्ट नियम हैं, पर जाहिर है कि कोई भी उम्मीदवार उनका पालन नहीं करता। चुनाव में पानी की तरह पैसा बहाया जाता है। इसी तरह उम्मीदवार और पार्टियां आपराधिक मामलों के विज्ञापन प्रकाशित कराने के मामले में कोई न कोई गली निकालने का प्रयास करें तो हैरानी की बात नहीं। फिर सब जानते हैं कि ऐसे नियमों का प्रतिनिधित्व पर कोई असर नहीं पड़ता। चुनाव जीत जाने के बाद किसी व्यक्ति को कानूनन उसके पद से हटाया नहीं जा सकता, जब तक कि उसके खिलाफ चल रहे किसी आपराधिक मामले में सजा नहीं सुना दी जाती। सर्वोच्च न्यायालय खुद कह चुका है कि वह किसी जघन्य अपराध के आरोपी को उम्मीदवार बनने से नहीं रोक सकता, यह संसद में कानून बना कर ही किया जा सकता है। इसलिए भी उम्मीदवार निर्वाचन आयोग के नियम-कायदों की धज्जियां उड़ाने से परहेज नहीं करते।

THE HINDU

Date: 12-10-18

The great Indian abdication

The judiciary alone cannot take forward the mission of deepening democracy and protecting social freedoms

Nissim Mannathukkaren is with Dalhousie University, Canada.

Unless... philosophers become kings in the cities... there can be no cessation of evils... for cities nor, I think, for the human race. — Plato, The Republic

After the slew of verdicts by the Supreme Court, on triple talaq, Section 377, adultery, and the Sabarimala temple, a prominent cartoonist adapted the famous "Road to Homo Sapiens" picture to depict the Supreme Court Justice as a barber who cleans up the barbarous Neanderthal to make him a modern human.

India, at present, is going through a deep crisis in which the mission of deepening democracy, and protecting and advancing social freedoms is placed solely upon the judiciary. On the one hand there is a complete abnegation of the role of the legislature, and on the other there is a dichotomy between social morality and judicial morality (itself an interpretation of constitutional morality). Both are dangerous tendencies.

A divide

The Supreme Court verdicts have curiously become a spectator sport on primetime television with a great amount of anticipation about the judgments in pending cases. The same curiosity is missing about parliamentary bills/debates, which are absolutely vital to a parliamentary democracy.

One example would suffice. Earlier this year, the government amended the Foreign Contribution Regulation Act to retrospectively legalise political donations from foreign companies and individuals since 1976. This move — with potentially catastrophic ramifications for Indian democracy — was pushed through without discussion in Parliament and hardly any debate in the public sphere.

If the judiciary has assumed the role of the single most important pillar of India's parliamentary democracy, built on separation of powers, it is mainly because of the degradation and abuse of the roles of the legislature and the the executive.

Parliament's erosion

Parliament, the supreme venue representing the people, has become a shadow of what it should be (even when the representation of marginalised communities has gone up). The words, "A fraud on the Constitution, used by Justice D.Y. Chandrachud's words (in a recent judgment), have ironically been used before by the Supreme Court to refer to executive and legislative actions.

The Prime Minister rarely attends parliamentary debates, affecting the sanctity of the forum. If the Lok Sabha met for an average of 127 days in the 1950s, in 2017 it met for a shocking 57. If 72 Bills were passed in a year in the first Lok Sabha, the number was 40 in the 15th Lok Sabha (2009-14).

The Budget session for this fiscal year saw a scarcely believable usage of 1% of its allotted time in the Lok Sabha, and the Budget, the most vital cog of a national's material basis, itself passed without discussion through the guillotine process. The basic minimum that could have been done amidst mounting allegations in the Rafale fighter aircraft deal was to institute a probe by a Joint Parliamentary Committee, but even that is not forthcoming. And what is the worth of Parliament when its convening could be held to ransom to the campaigning by the ruling party in the 2017 Gujarat elections?

Parliament, instead of representing the highest democratic ethos, panders to electoral majorities, leaving it incapable of challenging barbaric social/religious practices enforced by dominant interests. That is why it took 70 years for Section 377 to be partially struck down. Is it then surprising that the Supreme Court steps into this dangerous void left by the executive and the legislature?

But the task of democratising society cannot be left to the judiciary, an unelected body, the higher echelons of which self-appoint their members through the collegium system (itself a result of the executive trying to muzzle the independence of judiciary). Instead, it must be through social and political struggles from the bottom, and not through judicial diktats from above (even if the latter can be useful).

State of the judiciary

More importantly, the judiciary does not exist in a vacuum. Even when it attempts to correct regressive social practices, it is still a reflection of our society. Nothing could be more illustrative of this than the serious lack of diversity and representation, especially in the higher judiciary.

In 1993, Justice S.R. Pandian estimated that less than 4% of judges in the higher judiciary were from Dalit and tribal communities, and less than 3% were women. This led former President K.R. Narayanan to recommend that candidates from marginalised communities be considered as Supreme Court judges. Since Independence, only four Dalits have become Supreme Court judges, including one Chief Justice of India.

Even in the lower judiciary, the story is not starkly different. Data from 11 States show that the representation of Other Backward Classes, Scheduled Castes and Scheduled Tribes judges ranged from 12% to 14%. It took 42 years for a woman judge to be appointed to the Supreme Court, and there have been only eight women judges in the Supreme Court so far. While representation can become tokenistic and essentialist, democracy is absolutely hollow without it.

Case backlog

The abdication of responsibility by the legislature is even more damaging considering that the judiciary is groaning under the weight of a mammoth 3.3 crore pending cases. The backlog of cases in the High Courts and the Supreme Court is 43 lakh and 57,987, respectively. What could be more unjust in a democracy than thousands of innocent undertrials languishing in jails for a lifetime awaiting justice? A staggering 67% of India's prison population awaits trial; 55% of these undertrials are Dalits, tribals, and Muslims.

In this context, should the valuable time of the judiciary be spent in entertaining and delivering verdicts on Public Interest Litigations (PILs), seeking, to take a couple of instances, a ban on pornography or making the national anthem mandatory in cinema halls? The PIL, a unique and powerful tool to seek justice for the weakest sections, has now degenerated. Witness the recent example of one having been filed seeking segregated seats for vegetarian and non-vegetarian passengers in trains.

Overworked courts cannot become a one-stop solution for performing legislative/executive tasks such as banning fire crackers/loud speakers, enforcing seat belt/helmet wearing rules, or solving theological/civil society questions such as what the essence of Hinduism is or whether a mosque is integral for namaz (going beyond whether religious practices violate constitutional norms).

The process of abolishing religious or secular hierarchies/injustices cannot become deep-rooted if it is merely judicial or legal. Take the Supreme Court's recent directive urging new legislation to curb lynching. Politically-motivated lynchings targeting a community do not happen because of the absence of laws. They happen because of a wilful subversion of laws by the executive backed by mobs riding on electoral majorities. That is why the head of India's most populous and politically crucial State can declare publicly that he is proud of the demolition of Babri Masjid. Yet, the irony of democracy is such that the task of completing the world's largest democracy's political and social revolution cannot be laid only at the doorstep of the wise men and women in robes.